International Journal of Multidisciplinary Research and Development
Online ISSN: 2349-4182, Print ISSN: 2349-5979, Impact Factor: RJIF 5.72
www.allsubjectjournal.com
Volume 4; Issue 5; May 2017; Page No. 355-359

भारत में संविधानवाद के प्रवर्तन में उच्चतम न्यायालय की भूमिका

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर, विधि विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली, उत्तर प्रदेश भारत।

सारांश
भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था में ब्रिटिश संसदात्मक शासन प्रणाली जो कि लोगों की इच्छा को अभिव्यक्त करती है को अपनाया गया है तथा भारतीय संविधान निर्माताओं के द्वारा प्रतिनिधिक लोकतन्त्र की प्रणाली को भारतीय संविधान में समाहित किया गया है । वर्तमान समय में मनुष्य ऐसी राजनीतिक संस्थाओं की खोज में व्यस्त है, जिनकी स्थापना से शासको की शक्ति नियन्त्रित रहे और वे उसका सद्उपयोग कर सकें। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में नियन्त्रण की यह संस्थागत व्यवस्था व राजनीतिक शक्ति के प्रयोगकर्ताओं की भूमिका को भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से लिखकर निर्धारित किया गया है। संविधान अपने आप में कोई ऐसी युक्ति उपलब्ध नहीं करता है कि वह सभी चीजों को सन्तुलित कर दे, बल्कि यह तो इसका क्रियान्वयन है जो इसके वास्तविक अर्थो को प्राप्त कराता है तथा इसे ही संविधानवाद कहा जाता है। भारतीय संविधान संविधान में विषय को लिखित करने का मुख्य उद्देश्य चीजों को स्पष्टता प्रदान करना तथा उन्हें अक्षुण्ण बनाये रखना था। संविधानवाद कोई व्यवस्था नहीं है अपितु यह तो एक सिद्धान्त है जो कि व्यवहार से आता है। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था तो वस्तुतः नियन्त्रित शक्ति के द्वारा ही सही रूप में कार्य कर सकती है तथा इस दिशा में न्यायापालिका के द्वारा सराहनीय कार्य किया गया है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के सही संचालन के लिए न्यायापालिका की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जिसका निर्वहन भारतीय उच्चतम न्यायालय के द्वारा सफल रूप से किया गया है। इस प्रकार भारतीय न्यायपालिका के द्वारा न्यायिक पुर्नविलोकन की शक्ति का प्रयोग करके संविधानवाद के प्रवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका को अदा किया गया है।

मूल शब्द: संविधानवाद, भारत का संविधान, उच्चतम न्यायालय, लोकतान्त्रिक व्यवस्था।

1. प्रस्तावना

प्रत्येक व्यवस्था में राष्ट्र तथा उसके शासन की आधारशिला के रूप में संविधान होता है। इसका केन्द्रीय विषय सरकार के तीनो अंगो कार्यपालिका, विद्यायिका तथा न्यायपालिका के कार्यात्मक मानको को परिभाषित तथा अभिनिर्धारित करना है। यह सर्व स्वीकार्य सिद्धान्त है कि एक स्थायी राजनीतिक प्रणाली के लिए शक्तियों का सन्तुलन बहुत आवश्यक है। यह कार्य शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त द्वारा किया गया है। सरकार के तीनो अंगों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों की बात करता है। यह सिद्धान्त तीनों अंगों के कार्यो को अन्नयता प्रदान करने का प्रयास करता है। इस सिद्धान्त का प्रयोग करके एक स्पष्ट सीमांकन किया गया है।

लोकतन्त्र रूपी भवन वस्तुतः संविधानवाद रूपी नींव पर खड़ा है। लोकतन्त्र के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए संविधानवाद का वास्तविक प्रवर्तन आवश्यक है। क्योंकि लोकतन्त्र, लोककल्याणकारी राज्य का अग्रदूत है। लोककल्याणकारी राज्य में किसी भी अंग को असीमित शक्ति प्रदान नहीं की जाती है अपितु इसका उद्देश्य ''अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख होता है।'' जिसके लिए शक्तियों को सीमित किया जाना आवश्यक है भारतीय संविधान में लोककल्याणकारी राज्य की भावना को निहित किया गया है। जिसके लिए शक्तियों को सीमित करने के लिए विभिन्न उपबन्धों को समाहित किया गया है। जैसे विधि का शासन, शक्तियों का पृथ्थकरण, न्यायिक पुनर्विलोकन आदि इन्हीं उपबन्धों के द्वारा ही संविधानवाद को प्रवर्तित कराने का प्रयास किया गया है। भारतीय उच्चतम न्यायालय का संविधान के संरक्षक तथा अन्तिम निर्वचनकर्ता के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।

वास्तव में संविधान व संवैधानिक सरकार, संविधानवाद की पूर्वगामी परिस्थितियाँ है। संविधानवाद केवल उसी राजनीतिक व्यवस्था में सम्भव है, जहाँ संविधान हो और इस संविधान द्वारा राजनीतिक शक्ति के प्रयोगकर्ताओं की न केवल भूमिका निर्धारित की जाये, अपितु इस भूमिका की व्यवहारिकता की व्यवस्था भी की जाए, अर्थात् सरकार, संविधान की व्यवस्था के अनुरूप मनुष्य ही संचालित हो और इसे व्यवहार में सम्भव बनाने के लिए संवैधानिक नियन्त्रणों व प्रतिबन्धों की प्रभावशाली व्यवस्था हो।

यह माना जाता है कि सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र एक उच्चतर विधि सैवधानिक विधि के अधीन रहना चाहिए तथा 'राजनीतिक शक्ति' को नियन्त्रण व्यवस्था व इसके दुरूपयोग की बचाव प्रक्रियाओं को विधिवत् ऐसे लोककृत प्रलेख संविधान में उल्लेखित करना चाहिए जिसकी सत्ता, नीति निर्धारण व क्रियान्वयन करने वाली सरकार की संस्थाओं की शक्ति व पहुँच से सामान्यताः परे या ऊपर हो तथा इस प्रलेख की इतनी वैधता हो कि यह उन सब प्रयत्नों को जो इसके अतिक्रमण के लिए किए जाये, अभिभूत कर सकें और राजनीतिक समाज में हर व्यक्ति, संस्थान, समूह व दल इस उच्चतर विधि द्वारा निर्धारित भूमिका ही निभाए। इस 'उच्चतर विधि' में निहित मान्यताओं, मूल्यों व राजनीतिक आदर्शो की उपलब्धि हेतु शासकों को संविधान द्वारा नियमित अधिकार क्षेत्र में ही रहने के लिए बाध्य करने की संवैधानिक नियन्त्रण व्यवस्था को ही संविधानवाद कहते है।

पहले समय में संविधान के इतर बात करना व्यर्थ की बात समझा जाता था। मुख्य रूप से राजनीतिक इच्छा शक्ति पर बल दिया जाता था। संविधानवाद को सामान्य रूप से परिभाषित करते हुए हम कह सकते है कि संविधानवाद एक प्रणाली है जिसमें सरकार संविधान या उच्चतर विधि के अनुसार तथा उसके द्वारा विहित सीमाओं के भीतर रहते हुए कार्य करती है। जहाँ पर संविधान लिखित या अलिखित विधियों का निकाय है जो तत्समय प्रवृत सभी विधियों में सर्वोच्च है तथा इन पर पूर्विकता रखती है। संक्षेप में कहे तो संविधान द्वारा प्रभावी रूप से सरकार की शक्तियों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है तथा इस प्रकार का नियन्त्रण संविधानवाद की उपस्थिति पर ही सम्भव है। अगर मात्र संविधान होने से संविधानवाद को उपस्थित मान लिया जाये तो यह सही नहीं हो सकता है। इस प्रकार संविधानवाद एक सीमित सरकार की

अवधारणा है। किसी राष्ट्र की मूलभूत शक्ति से अपनी वैधता प्राप्त करता है। मौलिक अधिकार तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका प्रत्येक संविधानवाद की अनिवार्य और सामान्य विशेषता है।

संविधानवाद के सिद्धांत से अभिप्राय ऐसी राजनैतिक अवधारणा से है जिसमें सीमित सरकार तथा विधि के शासन की अवधारणा निरंकुश तन्त्र या अधिनायकवादी शासन के विरोध में परिलक्षित होती है। वस्तुतः संवैधानिक सरकार अनिवार्यतः लोकतान्त्रिक होनी चाहिए।सामान्य अर्थो में संविधानवाद एक राजनैतिक दर्शन है। जिसमें की सरकार के समस्त कार्य संविधान के प्रावधानों के अनुसरण में होने चाहिए अर्थात् सरकार के कार्यो से संविधानवाद परिलक्षित होना चाहिए।संविधानवाद वास्तव में एक व्यवहार है या कार्यप्रणाली है इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक राष्ट्र जहाँ पर संविधान है वहाँ पर संविधानवाद भी उपस्थित है।

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में संविधान तथा संविधानवाद के मध्य अन्तर स्थापित किया गया है। कोई व्यवस्था संविधान सम्मत होते हुऐ संविधानवाद रहित हो सकती है। संविधान केवल अंगो को शक्ति प्रदान नहीं करता है। किन्तु उन पर निर्बन्धन भी अधिरोपित करता है। संविधानवाद के द्वारा विधायी तथा कार्यपालिकीय शक्ति पर नियन्त्रण तथा सन्तुलन स्थापित किया गया है तथा उसे निरंकुश बनाने से रोकते है।एक संविधान सामान्य रूप से सरकार तथा शासन की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि आवश्यक रूप से संविधानवाद की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करें। कुछ संविधान केवल शासन की वर्तमान प्रणाली का वर्णन करते है या सामाजिक उद्देश्यों की घोषणा करते है या नीति आदि के बारे में बताते है। किन्तु ये प्राथमिक रूप से संविधानवाद से जुड़ी हुयी अवधारणाएँ नहीं कही जा सकती। बोगडनोर के द्वारा संविधानवाद की निम्न चार विशेषताएँ बातयी गयी है [1]:–

1. यह कि शक्ति का प्रयोग संसद द्वारा प्रदान की गयी विधिक सीमाओं के भीतर किया जाये तथा जो उस शक्ति का प्रयोग करते है वो उस विधि के प्रति उत्तरदायी है।
2. शक्तियों का प्रयोग, विधिक प्राधिकारियों से असंगत रहते हुए व्यक्ति तथा व्यक्तिक नागरिक अधिकारों की धारणा को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।
3. यह कि, राज्य के अन्दर सरकार के अंगों विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायापालिका के मध्य शक्ति का पर्याप्त रूप से विभाजन होना चाहिए जिससे की शक्तियों का दुरूपयोग रोका जा सकें।
4. यह कि सरकार नीतियों के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन के समय उन निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए जिन्होंने उसे चुना है।

संक्षेप में संविधानवाद से अभिप्राय शक्तियों के पृथ्थकरण सीमित सरकार की अवधारणा तथा उत्तरदायी सरकार (निर्वाचकों के प्रति) से है।पाश्चात्य विचारकों के अनुसार संविधानवाद के दो पहलू साधन और साध्य है। संविधानवाद में इन दोनों पहलुओं का पाया जाना अनिवार्य है।

संविधान से संविधानवाद की अभिव्यक्ति होती है और संविधान पर ही संविधानवाद बहुत कुछ आधारित होता है परन्तु फिर भी दोनों एक दूसरे से कुछ अर्थो में भिन्न है।संविधानवाद सदैव विकास का प्रतिफल रहा है। वहाँ संविधान साधरणतया निर्मित होते है। जो समय के साथ आवश्यकताओं के अनुरूप औपचारिक संशोधनों तथा परम्पराओं के माध्यम से परिवर्तित होते है और ढलते जा रहे है।संविधान में प्रधानता समाज के लक्ष्यों और उद्देश्यों की होती है, जबकि संविधान उन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों की व्यवस्था है और इस रूप में संविधानवाद और संविधान का परस्पर सम्बन्ध साध्य और साधन का है।संविधानवाद एक अन्तर्भूतकारी धारणा है। जबकि संविधान अपवर्जनकारी धारणा है। प्रायः देखने में आता है। कि संविधानवाद अनेक देशों में एक–सा हो सकता है। परन्तु संविधान एक सा नहीं होता है। अनेक विकासशील देशों में संविधान को रूपरेखा पाश्चात्य देशों के संविधान की रूपरेखा से मिलती है। राजनीतिक संस्कृति के भिन्न होने से इन संविधानों का व्यवहारिक रूप भिन्न हो जाता है और इसलिए व्यवहारिक दृष्टि से ही संविधान की विशेषताएँ भिन्न हो जाती है। ''वर्तमान राजनैतिक विचारधारा में संविधान तथा संविधानवाद के मध्य विभेदन किया गया है [2]'', कोई राष्ट्र संविधान सहित होते हुए भी संविधानवाद रहित हो सकता है। संविधान के द्वारा विधायिका तथा कार्यपालिका की शक्ति पर निर्बन्धन अधिरोपित किये जाते है। जिससे की उन्हें अनियन्त्रित तथा निरंकुश होने से रोका जा सकें।

2. संविधानवाद के प्रवर्तन में उच्चतम न्यायालय न्यायापालिका की भूमिका

संविधानवाद एक ऐसा सफल भवन है जिस पर कि लोकतन्त्र खड़ा है। लोकतन्त्र को वास्तविक अर्थो के प्राप्त करने के लिए संविधानवाद आवश्यक है तथा संविधानवाद को अगर हम संक्षेप में कहे तो यह ''विधि के शासन'' से अधिक कुछ भी नहीं हो सकता है। जहाँ पर सभी विधि के समक्ष समान तथा समान संरक्षण के अधिकारी है वहाँ पर विधि का शासन स्वतः ही विद्यमान है इसके द्वारा शक्तियों को सीमित किया जाता है जो कि संविधानवाद की विशेषता है।

भारतीय परिपेक्ष्य में जब हम इसे देखते है तो भारतीय संविधान निर्माताओं के द्वारा प्रतिनिधिक लोकतन्त्र भारतीय संविधान समाहित किया तथा जिसके प्रभावी क्रियान्वयन के लिए विधि का शासन न्यायिक पुनर्विलोकन जैसे सिद्धान्तों को भी संविधान में समाहित किया गया है तथा सरकार की शक्ति को सीमित करने का प्रयास किया गया है तथा संविधानवाद के अनुपालन के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को संविधान ने समाहित करके न्यायापालिका को शसक्त बनाया गया है। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था तो वस्तुतः नियन्त्रित शक्ति के द्वारा ही सही रूप में कार्य कर सकती है तथा इसी कार्य के लिए न्यायापालिका के द्वारा सराहनीय कार्य किया गया है। इसे हम आगे के बिन्दुओं में समझ सकते है।इस लोकतन्त्र, संविधानवाद तथा न्यायापालिका द्वारा संविधान का प्रवर्तन एक सीमा तक एक दूसरे में अतिव्यापी प्रतीत होते है।

2.1 शक्तियों के पृथ्थकरण, समान सिविल संहिता, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 309, 377 के सम्बन्ध में न्यायापालिका की भूमिका

न्यायापालिका द्वारा हमेशा से यह प्रयास किया गया है कि वह विधायी तथा कार्यपालिकीय कृत्यों में हस्तक्षेप न करें तथा विधायी कार्य विधायिका द्वारा हो किये जाये। इस सन्दर्भ में निम्न निर्णय उल्लेखनीय है। बाल्को कर्मचारी संघ (रजिस्टर्ड) बनाम भारत संघ[3] इस वाद में बाल्को कम्पनी में भारत सरकार के 51 प्रतिशत अंश में जिसे सरकार द्वारा एक प्राइवेट कम्पनी को बेंच दिया गया। कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा अभिकथन किया गया वह अनु0 14 और अनु0 16 का उल्लंघन करता है। उच्चतम न्यायालय को पॉच सदस्यी पीठ द्वारा सर्वसम्मति से अभिनिर्धारित किया गया की विनिवेश का प्रश्न एक नीतिगत निर्णय है। न्यायालयों द्वारा स्वयं को सदा आर्थिक नीतियों में हस्तक्षेप से रोका गया है। जब तक कि वे संविधान किसी अधिनियम का उल्लंघन न करती है। अपीलार्थी यहाँ पर यह दिखाने में असमर्थ रहे की सरकार का निर्णय मनमाना, अवैध और बिना सूचना दिये किया गया है।

सरला मुद्गल बनाम भारत संघ[4] के बाद में उच्चतम में अपने ऐतिहासिक महत्व के निर्णय में प्रधानमंत्री से यह निवेदन किया कि वे संविधान के अनुच्छेद 44 पर नया दृष्टिकोण अपनाये जिसमें सभी नागरिको के लिए 'समान सिविल संहिता' बनाने का निर्देश दिया

और कहा कि ऐसा करना पीड़ित व्यक्ति की रक्षा तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की अभिवृद्धि दोनों दृष्टि से आवश्यक है।उक्त बात को उच्चतम न्यायालय द्वारा जॉन वालामटोम बनाम भारत संघ[5] के वाद में दोहराया किन्तु स्वयं इसके सम्बन्ध में दिशा निर्देश देने से इंकार कर दिया।

अनुच्छेद 21 के अनतर्गत जीने के अधिकार में मरने का अधिकार शामिल है कि नहीं या प्रश्न जब न्यायालय के समझ आया तब इस विषय पर दो प्रतिकूल मत सामने आये एक मत के अनुसार जीने के अधिकार में मरने का अधिकार शामिल है। अतः धारा 309 भारतीय दण्ड संहिता असवैंधानिक है। जबकि ग्यान और बनाम पंजाब राज्य[6] के वाद में न्यायालय द्वारा धारित किया गया कि: *''अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत 'जीवन के अधिकार' के अन्तर्गत 'मरने का अधिकार' शामिल नहीं है।''* न्यायालय ने यह भी कहा कि 'मरने का अधिकार' यदि कोई है भी तो वह 'जीने के अधिकार' से अंसगत है जैसे 'मृत्यु' और 'जीवन' एक दूसरे के विरोधी है। न्यायालय ने यह तर्क भी अस्वीकार कर दिया की मरने का अधिकार समाप्त कर दिया जाये या नही, इस पर चल रही चर्चा इसका पर्याप्त आधार है। कि उक्त धारा अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है। अतः अवैध है। यह विषय विधान मण्डल के क्षेत्र में आता है इसके द्वारा न्यायापालिका द्वारा स्वयं को सीमित कर लिया गया। नाज फाउण्डेशन बनाम राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली सरकार[7] के वाद में न्यायालय के द्वारा धारा 377 भारतीय दण्ड संहिता को असंवैधानिक घोषित कर दिया। धारा 377 को अनुच्छेद 14, 15 व 21 का उल्लंघन करने के कारण शून्य घोषित कर दिया गया था किन्तु अपील में मामला सुरेश कुमार कौशल एवं अन्य बनाम नाज फाउण्डेशन[8] के वाद में दो न्यायाधीशों जी एस0 सिंधवी तथा न्यायाधीश शुधाश ज्योति मुखोपाध्याय की पीठ द्वारा दिल्ली उच्च न्यायालय के निर्णय को उलट दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि यह असंवैधानिकता के दुर्गुण से युक्त नहीं है। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 377 को संविधान के अनुच्छेद 14 तथा 15 के अधिकारातीत घोषित किया जाना सही नहीं था। भा0द0स0 की धारा 377 को पढ़ने में उच्च न्यायालय की खण्डपीठ ने इसकी अनदेखी की है। समलैगिक पुरूष या स्त्रियाँ या द्विलैंगिक या परलिंगी सम्पूर्ण जनसंख्या का बहुत छोटा भाग है तथा विगत 150 वर्षो में मात्र 200 व्यक्तियों से कम को इस धारा के अधीन अभियोजित किया गया है और यह धारा संविधान के अनुच्छेद 14, 19 तथा 21 के अधिकारित होने का उत्तम आधार नहीं है।अग्रेतर न्यायालय द्वारा यह भी अभिनिर्घारित किया गया कि सक्षम विधायिका संविधि की पुस्तक से भारतीय दण्ड संहिता की धारा 377 को समाप्त करने या संशोधित करने की वांछनीयता या औचित्य पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र होगी।[9] इस प्रकार न्यायापालिका के द्वारा अपने आप को सीमित रखते हुए विधायिका के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया, अनेक अवसरों पर न्यायपालिका के द्वारा कार्यपालिका से पृथ्थकरण के सिद्धान्त पर कार्य करते हुए स्वः नियन्त्रण के सिद्धान्त को अपनाया गया है

2.2 विधि के शासन तथा न्यायिक पुर्नविलोकन के सम्बन्ध में न्यायापालिका की भूमिका

पी0 सम्भामूर्ति बनाम आन्ध्र प्रदेश के वाद[10] में उच्चतम न्यायालय द्वारा कार्यपालिका को ट्रिब्यूनल न्याय के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का प्राधिकार प्रदान करने वाले उपबन्ध को असंवैधानिक घोषित कर दिया। डी0सी0 बाधवा बनाम बिहार राज्य[11] के विधि के शासन का अवलम्ब लेते हुऐ उच्चतम न्यायालय के द्वारा राज्य विधायिका के बार–बार लगाये जाने वाले राष्ट्रपति शासन की निन्दा की गयी।युसुफ खान बनाम मनोहर जोशी के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा धारित किया कि यह राज्य का कर्तव्य है कि वह विधि तथा संविधान का परिरक्षण तथा संरक्षण करें और यह किसी ऐसे कृत्य को अनुज्ञा नहीं देगा जो विधि के शासन को नकारता है। ''विधि के शासन'' से निकला सिद्धान्त न्यायिक पुर्नविलोकन है। न्यायिक पुर्नविलोकन, विधि के शासन का ही अनिवार्य भाग है। केवल विधियों की संवैधानिकता ही नहीं अपितु प्रशासनिक कृत्य भी विधि के शासन के अधीन है। राज्य के लोक प्राधिकारियों के क्रियाकलाप तथा नौकरशाहों के कृत्य भी न्यायिक पुनार्विलोकन के अधीन जिससे की उनको सीमित किया गया है तथा इस प्रकार वे सभी कृत्यों की वैधानिकता के लिए न्यायापालिका के अधीन है। भारत में न्यायिक पुर्नविलोकन इतना महत्वपूर्ण है कि इसे संविधान का आधारभूत ढाँचा[12] घोषित किया गया है।

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य[13] के बाद में जस्टिस खन्ना ने कहा कि ''फेडरल पद्धति में जहाँ विधायी शक्तियों का केन्द्रीय विधान मण्डल और राज्य विधान मण्डल में बँटवारा होता है, ऐसे विवादों को निपटाने के लिए कि क्या एक विधान मण्डल ने दूसरे के विधायी क्षेत्र में अतिक्रमण किया है, न्यायालय की व्यवस्था की जाती है और विधान मण्डलो द्वारा पारित किये गये अधिनियम की विधिमान्यता का अवधारणा करने के लिए न्यायालयों में न्यायिक पुर्नविलोकन की शक्ति निहित की गयी है। न्यायिक पुर्नविलोकन की शक्ति केवल इस बात का विनिश्चय करने तक सीमित नहीं है कि क्या अपेक्षित विधियाँ बनाने में विधान मण्डलों ने अपनी निश्चित विधायी सूचियों की परिधि के भीतर काम किया है वरन् न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करते है कि क्या विधियाँ संविधान के अनुच्छेदो के अनुरूप बनायी गयी है और उनसे संविधान के अन्य उपबन्धों का उल्लंघन तो नहीं होता है। इस प्रकार न्यायिक पुर्नविलोकन हमारी संवैधानिक पद्धति का अभिन्न अंग बन गया है।''

मिनर्वा मिल लिमिटेड बनाम भारत संघ[14] विधियों की संवैधानिकता जाँचने की शक्ति न्यायाधीशों के पास है। यदि न्यायाधीशों को इस शक्ति से वंचित कर दिया जाये तो नागरिकों को दिये गये मूल अधिकार मात्र एक आभूषण बनकर रह जायेगें तथा एक नियन्त्रित संविधान अनियन्त्रित संविधान में बदल जायेगा।आई0आर0 कोल्हे बनाम तमिलनाडू राज्य[15] के वाद में जस्टिस वाई0के0 सब्बरवाल की अध्यक्षता में 9 न्यायाधीशों की संवैधानिक पीठ ने धारित किया कि संविधान की नयी अनुसूची, जिसके द्वारा अनुच्छेद 31ख जोड़ी गई थी, 24 अप्रैल 1973 के पश्चात् जिस दिन केशवानन्द भारती का निर्णय दिया गया था में सम्मिलित किए गए किसी अधिनियम को विखण्डित किया जा सकता है यदि यह संविधान के ''आधारभूत ढाँचे'' का उल्लंघन करता है। नयी अनुसूची संविधन के प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा अनु0 31ख के रूप में समाविष्ट की गई थी। नवी अनुसूची का मुख्य उद्देश्य भूमि सुधार अधिनियमों को न्यायालय में चुनौती देने से रोकना या किन्तु इसे एक सार्वजनिक विषय बना दिया गया तथा सभी प्रकार की विधियाँ चाहे वे निर्वाचन सम्बन्धी हो या औद्योगिक विषय से सम्बन्धित इसमें सम्मिलित कर दी गयी न्यायालय द्वारा धारित किया गया की अनुसूची 9 न्यायिक पुर्नविलोकन के अधीन है।

राजारामपाल बनाम सम्मानीय अध्यक्ष लोक सभा[16] के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा धारित किया गया गम्भीर तथा मौलिक अनियमितता तथा असंवैधानिकता के कारण प्रदूषित कार्यवाही न्यायिक संवीक्षा से संरक्षित नहीं होगी। इपुरू बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य[17] के वाद में उच्चतम न्यायालय द्वारा धारित किया गया की राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के क्षमादान की शक्ति का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है। क्षमादान की शक्ति का प्रयोग राजनीतिक, धर्म और जाति के कारणों से नहीं किया जा सकता है। प्रस्तुत मामलें में एक कांग्रेस कार्यकर्ता ने तेलगुदेशम दल के एक व्यक्ति की हत्या कर दिया था। न्यायालय ने उसे मृत्युदण्ड का दण्ड दिया था। आन्ध्र प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री शिन्दे ने

उसको क्षमादान प्रदान कर दिया था। पीड़ित व्यक्ति के लड़के ने राज्यपाल के क्षमादान के आदेश को विधिमान्यता को आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय में चुनौती दी थी। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के द्वारा क्षमादान के आदेश को अविधिमान्य घोषित कर दिया तथा कहा कि इसका प्रयोग राजनीतिक आधार पर किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने उच्च न्यायालय के विनिश्चय की पुष्टि करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि यदि इसका प्रयोग राजनीतिक, धर्म तथा जाति के आधार पर किया जाता है। तो वह मनमाना और संविधान की अवहेलना होगा तथा न्यायालय उसकी विधिमान्यता का न्यायिक परीक्षण कर सकती है।

डॉ0 अम्बेडकर द्वारा न्यायिक पुर्नविलोकन को निम्न शब्दों में कहा गयाः ''यदि मुझसे यह पूछा जाये कि संविधान में कौन सा विशेष अनुच्छेद सबसे महत्वपूर्ण है जिसके बिना यह संविधान शून्य हो जायेगा तो मैं इसके सिवाय किसी दूसरे अनुच्छेद का नाम नहीं लूँगा। यह संविधान की आत्मा है।[18]'' प्रो0 बनार्ड स्विचवर्टण[19] के अनुसार ''संविधान रिक्त शब्दों की तरह है जब तक न्यायापालिका इसको प्रवर्तित नहीं करा सकती। न्यायिक पुर्नविलोकन ही इस राजनैतिक नैतिकता से संविधानिक उपबन्ध बनाता है। व्यवहार में न्यायिक पुर्नविलोकन के बिना कोई संविधान नहीं हो सकता। न्यायिक पुर्नविलोकन के द्वारा असंवैधानिक विद्यायन के विरूद्ध पर्याप्त सुरक्षा उपाय खोजे गये है। यह सत्य है कि न्यायिक पुर्नविलोकन संवैधानिक संरचना का अनिवार्य परिणाम है।''इस प्रकार भारतीय न्यायपालिका के द्वारा न्यायिक पुर्नविलोकन की शक्ति का प्रयोग करके संविधानवाद के प्रवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

2.3 राज्यों में ''संवैधानिक तन्त्र की विफलता'' का दुरूपयोग तथा न्यायपालिका द्वारा इस सम्बन्ध में किये गये प्रयास

अगर अनुच्छेद–356 के मूल को तलाशा जाए तो यह औपनिवेशिक भारत में लागू, भारत शासन अधिनियम, 1935 से प्रेरित जान पड़ता है। भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 93 के अनुसार, यदि किसी प्रान्त के गवर्नर को यदि सन्तुष्टि हो जाती थी कि प्रान्त की सरकार इस अधिनियम के अनुसार नहीं चल रही है, तो वह प्रान्तीय स्तर की सभी तरह की शक्तियों को अपने नियन्त्रण में ले सकता था। उस समय भारत ब्रिटेन का उपनिवेश होने के कारण उक्त व्यवस्था उचित हो सकती थी किन्तु भारत शासन अधिनियम के जिस उपबंध को अलोकतान्त्रिक बताकर राष्ट्रवादियों ने जबरदस्त विरोध किया था उसी प्रावधान को बदले स्वरूप में स्वतन्त्र भारत में संविधान निर्माण के दौरान संविधान सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया। लोकतान्त्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार को बर्खास्त करने का यह अधिकार बिल्कुल अनूठा और असामान्य है। पाकिस्तान और भारत को छोड़कर विश्व के किसी भी उदारवादी लोकतान्त्रिक संविधान में ऐसा प्रावधान नहीं है। हालांकि संविधान निर्माताओं को भी इस अनुच्छेद के दुरूपयोग को लेकर आशंका थी परन्तु उन्होंने भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में अनुच्छेद–356 का प्रावधान किया। यद्यपि वह भी यह चाहते थे कि इसका प्रयोग अच्छा प्रशासन स्थापित करने के बहाने न किया जाए। डॉ0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में यह आश्वासन दिलाया था कि इस ''अनुच्छेद का प्रयोग बहुत ही कम और कुछ विशेष परिस्थितियों में ही किया जाएगा और यह निर्जीव व्यवस्था की भाँति रहेगा।'' किन्तु इसके लागू होने के बाद बनी सरकारों ने उनकी उम्मीदों और अपेक्षाओं पर पानी फेर दिया तथ संघीय आदर्शो को ताक पर रखकर अनुच्छेद 356 का अत्यधिक दुरूपयोग किया गया है। स्वतन्त्र भारत में अब तक शताधिक बार अनुच्छेद 356 का प्रयोग किया गया है। इसके दुरूपयोग का प्रथम मामला पण्डित जवाहर लाल नेहरू द्वारा पंजाब के मुख्यमंत्री गोपीचन्द भार्गव को पूर्ण बहुमत वाली सरकार को बर्खास्तगी के समय आया।

इस सम्बन्ध में कर्नाटक सरकार की बर्खास्तगी के बाद उच्चतम न्यायालय में कर्नाटक के बर्खास्त मुख्यमंत्री के द्वारा केन्द्र सरकार के विरूद्ध याचिका दायर की गई कि अनुच्छेद 356 के प्रयोग के लिए राष्ट्रपति का ''समाधान'' न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन हो या नहीं। इस विषय पर मूल संविधान मौन था। 38वें संविधान संशोधन (1975) द्वारा इसमें यह उपबन्ध जोड़ा गया कि आपात की उद्घोषणा सम्बन्ध में राष्ट्रपति का समाधान न्यायिक पुनर्विलोकन का विषय नहीं होगा। बाद में राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ के मामलें में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि राष्ट्रपति का समाधान दुर्भावना से प्रेरित हो या असंबद्ध आधारों पर निर्भर हो तो न्यायालय उसका पुनर्विलोकन कर सकता है। 44वां संविधान संशोधन 1978 द्वारा उक्त उपबन्ध को निकाल दिया गया। एस0आर0 बोम्मई बनाम भारत संघ [20] इस मामलें में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायाधीशों की पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनु0 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा राज्यों राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए की गई उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है और राष्ट्रपति के समाधान के लिए युक्तियुक्त शर्त है। न्यायालय इसकी जाँच कर सकते है कि वे कारण विद्यमान थे कि नहीं जिनके आधार पर राष्ट्रपति ने उद्घोषणा की थी।अभी हाल ही में अरूणांचल प्रदेश तथा उत्तराखण्ड में राष्ट्रपति शासन का लगाया जाना विवादित रहा अरूणांचल प्रदेश के मामलें में उच्चतम न्यायालय ने कहा किः ''यदि कहीं लोकतन्त्र की हत्या हो रही हो तो न्यायापालिका कैसे चुप बैठ सकता है? वह भी तब जबकि ऐसा संवैधानिक संस्था के द्वारा किया जा रहा हो।''

3. निष्कर्ष

संविधानवाद ऐसा सफल भवन है जिस पर लोकतन्त्र खड़ा है तथा विधि का शासन भारतीय लोकतन्त्र का प्रमाणिक चिन्ह है, जिसके कारण भारतीय स्वयं को शसक्त महसूस करते है तथा राष्ट्र के निर्माण में पूर्ण जोश तथा उत्साह से अपनी भागीदारी सुनिश्चित करते है। यदि हम अमेरिकी उच्चतम को देखें तो वहाँ पर न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा जीवनपर्यत्न के लिए की जाती है जबकि भारत में यह गैर राजनीतिक प्रक्रिया द्वरा की जाती है जिससे न्यायाधीश स्वतन्त्र होकर अपना कार्य कर सकते है। यहीं भारतीय संविधान को एक जीवित दस्तावेज बना देती है जिससे की यह बदलते समय के अनुकूल काम कर सकता है।

इस प्रकार भारत में न्यायालय ने स्वयं को लोकतन्त्र के सजग प्रहरी के रूप में स्थापित किया है तथा लोकतन्त्र की रक्षा की है। आज जब हमारा लोकतन्त्र परिपक्वता की सीढ़ियाँ चढ़ रहा है। ऐसे में यह आवश्यक है कि हम अपने संविधान की सीमाओं पर विचार करें और उनमें यथासम्भव संशोधन भी किये जाएँ लोकतान्त्रिक व्यवस्था में इसके सही संचालन के लिए न्यायापालिका की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिसका निर्वहन भारतीय न्यायालयों के द्वारा सफल रूप से किया गया है।

भारत में कभी–कभी संसद तथा संविधानिक उपबंधों के मध्य अर्न्तविरोध की स्थिति उत्पन्न हुई है। जिसे सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा अनेक अवसरो पर न्यून या समाप्त किया गया है, क्योंकि प्राथमिकी जनता की राय (अर्थात् संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान पर) द्वितीयक जनता की राय या अभिमत (अर्थात् संसदीय विद्यायन) को अभिभाविकता नहीं दी जा सकती है, क्योंकि संविधानवाद को कोई व्यवस्था नहीं है यह सिर्फ एक सिद्धान्त मात्र है जो कि प्रक्रिया द्वारा चरितार्थ होता है तथा यदि कार्य संविधानिक उपबंधों के अनुसार हो तो संविधानवाद स्वतः परिलक्षित होता है तथा यदि कार्य संविधान के इतर किया जाता है तो वहाँ पर संविधानवाद उपस्थित नहीं हो सकता। भारतीय परिपेक्ष्य में

किसी एक उपबंध को संविधानवाद के लिए श्रेयित घोषित नहीं किया जा सकता अपितु सम्पूर्ण संविधान से संविधानवाद के और उन्मुख है। इस प्रकार हम कह सकते है कि भारत में निसन्देह संविधानवाद विद्यमान है। लेकिन इसके अपवाद के रूप विधि का शासन उस रूप में हमारे यहाँ लागू नहीं होता जैसा कि इंग्लैण्ड में है क्योंकि इंग्लैण्ड में संसदीय सर्वोच्चता विद्यमान है। जबकि भारत में संविधान सर्वोच्च है। इसलिए यहाँ विधि के शासन को उस रूप में भारत में लागू नहीं किया जा सकता है परन्तु यह भारत में प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों के रूप में प्रशासनिक कार्यो को नियन्त्रित करने के लिए उपस्थित है।

संदर्भ सूची

1. बोगड़नोर, इन्ट्रोडक्शन इन डैमोक्रेटिक पॉलिटिकल, 1988, लन्दन पॉलिसी स्टडिज इनस्टियूट हिलेयरी बारनेट कान्सटिट्यूशनल एण्ड एडमिनिस्ट्रटिव केवेन्डिस पब्लिकेशन लि0 लन्दन, तृतीय संस्करण, पृ0सं0 5–6।
2. जैक्शन, द सु0को0 इन दी अमेरिकन सिस्टम ऑफ गवर्नमेन्ट, 23(1965)।
3. जे0टी0 2001, एस0सी0 466: (2002) 2एस0सी0सी0 333।
4. ए0आई0आर0 1995, 3 एस0सी0सी0 851 635।
5. ए0आई0आर0 2003, एस0सी0सी0 2902।
6. ए0आई0आर0 1996, 2 एस0सी0सी0 649।
7. ए0आई0आर0 2010, क्रि0ल0ज0 94, दिल्ली (ख0पी0)।
8. एस0एल0पी0 (सि0) 2009 की संख्या 15436 निर्णय दिनांक 11.12.2013।
9. तत्रैव, पैरा 58।
10. ए0आई0आर0 1987, एस0सी0 663:(1987) 1 एस0सी0सी0 362।
11. ए0आई0आर0 1987, एस0सी0 597:(1987) 1 एस0सी0सी0 378।
12. एल0 चन्द्र कुमार बनाम भारत संघ, ए0आई0आर0 1997, एस0सी0 1125।
13. ए0आई0आर0 1973, एस0सी0 1461(1973) 4 एस0सी0सी0 225।
14. ए0आई0आर0 1980, एस0सी0 1789।
15. ए0आई0आर0 2007, एस0सी0 86।
16. ए0आई0आर0 2007, 3 एस0सी0सी0 1488।
17. ए0आई0आर0 2006, एस0सी0 3385।
18. कान्सटिट्यूशनल ऐसेम्बली डिबेट वाल्यूम 7, पृ0सं0 953।
19. रवि जेस्वा एण्ड शाहीन शेख, ''द नेसेसिटी ऑफ एकाउंटिबिल्टी इन जूडिशियल रिव्यू पॉवर'' पब्लिशिंग इन इण्डियन बार रिव्यू, वाल्यूम (3 एण्ड 4), 2002, पृ0सं0 206।
20. ए0आई0आर0 1994, 3 एस0सी0सी0 1